सा विद्या या विमुक्तये

(सार्वभौमिक कल्याण की शाश्वत अभिव्यक्ति)

चन्द्र भूषण शर्मा
एवं
पवन कुमार शर्मा

सा विद्या या विमुक्तये

(सार्वभौमिक कल्याण की शाश्वत अभिव्यक्ति)

चन्द्र भूषण शर्मा
एवं
पवन कुमार शर्मा

प्रथम संस्करण 2017

© चन्द्र भूषण शर्मा एवं पवन कुमार शर्मा

ISBN 81-901656-7-4

मैसर्स कौटिल्य पब्लिकेशन, 593, एशियन गेम्स विलेज,
नई दिल्ली–110049 द्वारा प्रकाशित।

मूल्य : रु. 25/–

Printed at M/s Sachdeva Printing Press, A-50, Govind Park, Delhi-110051

प्राक्कथन

प्रिय पाठक वृन्द,

वेद विश्व के आदि ग्रंथ माने जाते हैं और इनकी सृजन भूमि भारतवर्ष रही है। यह ग्रंथ मानव के विकास से संबंधित विभिन्न आयामों को ना केवल स्वयं में समेटे हुए हैं बल्कि उन आयामों के द्वारा युग-युगों के प्राणी मात्र के कल्याण का मार्ग भी प्रशस्त कर रहे हैं। किंतु आज उन्हीं को अध्ययन/अध्यापन के दृष्टिकोण से शिक्षा प्रक्रिया में सम्मिलित नहीं किया गया है। क्योंकि शिक्षा आज मात्र रोजगार प्राप्ति तक सीमित होकर रह गई है। उसका ज्ञान से कोई संबंध नहीं रह गया है। जबकि भारत विद्या की परंपरा का देश था। विद्या यानि जिसके माध्यम से व्यक्ति न केवल स्वयं समृद्ध होता था बल्कि परिवार और समाज की समृद्धि का भी कारक बनता था। किंतु जो शिक्षा आज हमें दी जा रही है। वह न केवल हमें विद्या की परंपरा से विलग कर रही है बल्कि सर्वहित के लिए प्राणी मात्र के दमन का पाठ भी पढ़ा रही है। यदि शिक्षा हमें अपनों के सिर कुचलकर मात्र लौकिक उपलब्धियों की प्राप्ति तक ही सीमित करती है तो यह हमारी सनातनी परंपरा का हिस्सा नहीं हो सकती। जबकि विद्या प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं के कर्म और समाज के सहयोग से श्रेष्ठतम बनने की गारंटी जो न केवल जीवनकाल में अपितु जीवन के बाद भी संचित कर्म के आधार पर अपने भवितव्य को सुधारने का साधन भर है। भारतीय परंपरा में विद्या साधन नहीं अपितु साध्य रही है और आज भी यही होना चाहिए। विद्या के माध्यम से हमें श्रेष्ठ व्यक्ति, परिवार और समाज निर्माण के सूत्र मिलने चाहिए। भारत इस प्रक्रिया के द्वारा ही विश्व की श्रेष्ठतम संस्कृतियों की श्रेणी में सम्मिलित रह चुका है। किंतु आधुनिक शिक्षा व्यवस्था में हमें थोड़ा कमतर कर दिया है। यदि हम पुनः श्रेष्ठतम बनना चाहते हैं तो हमें अपनी ज्ञान परंपरा को आधुनिक विश्व और विज्ञान के संदर्भ में पुनः परिभाषित कर स्थापित करने की प्रक्रिया को गतिशील बनाना होगा।

हमारी परंपरा क्या थी, उसके आधार और मानदंड क्या थे, और हम पुनः उन ऊंचाईयों को कैसे प्राप्त कर सकते हैं? इसकी चर्चा हमारे शिक्षण संस्थानों में शुरू होकर पूरे समाज तक पहुँचनी चाहिए। हम दूसरे देशों की परंपरा की चर्चा और बताई गई बातों को अमल में लाने का प्रयास अपेक्षाकृत अधिक करते हैं। निश्चित ही हम विदेशी परंपरा के अनुसरण से श्रेष्ठत्व को प्राप्त नहीं कर सकते। इससे तो हम विदेशों के पिछलगू मात्र बन कर रह जायेंगे। इस विषय पर भी चर्चा होनी चाहिए कि क्या ज्ञान और विद्या को धर्म से जोड़कर देखने की परंपरा को सिरे से नकारा जाये। क्योंकि

आधुनिक शिक्षा में श्रेष्ठ मनुष्य और समाज बनाने में असफल रही है। वह शिक्षा किस काम की जिससे सार्वभौमिक कल्याण का लक्ष्य न प्राप्त किया जा सके।

इस पुस्तिका के माध्यम से समाज और शिक्षण संस्थानों में एक सार्थक बहस प्रारंभ हो ऐसा हमारा प्रयास है, जिससे हमारा देश अपनी शिक्षा व्यवस्था का पुनर्मूल्यांकन कर देश और विश्व को एक कल्याणकारी विद्या व्यवस्था की ओर अग्रसर कर सके। आप अपने विभाग, संस्थान और समूह में अगर इस विषय पर चर्चा कर उसके पाथेय से हमको अवगत करावेंगे तो हमें अतीव प्रसन्नता होगी और हमारा यह प्रयास सार्थक बन पड़ेगा।

आइये, हम साथ मिलकर एक बार पुनः एक ऐसी विद्या व्यवस्था की ओर बढ़ने का प्रयास करें जो हमें जीवन में श्रेष्ठता प्रदान करे और मुक्ति का मार्ग भी प्रशस्त कर सके।

चंद्र भूषण शर्मा

पवन कुमार शर्मा

सा विद्या या विमुक्तये

(सार्वभौमिक कल्याण की शाश्वत अभिव्यक्ति)

सम्पूर्ण विश्व आज अनेकानेक प्रकार की व्याधियों से ग्रस्त है और उसका समाधान ढूंढने के लिए प्रयासरत है। किंतु वह जैसे ही किसी समाधान (जोकि समाधान नहीं होता, मात्र विकल्प ही होता है) के निकट होता है, वैसे ही संज्ञान में आता है कि व्याधि और अधिक बड़ी हो चुकी है। ऐसा विगत अनेक शताब्दियों से विश्व के साथ हो रहा है। लगभग 300 वर्षों से जब से शेष विश्व के साथ भारत का निकटतम संबंध हुआ है, इस देश को भी इन व्याधियों ने भयावह ढंग से ग्रसित किया है। यह संकट दिन-प्रतिदिन और अधिक गहराता जा रहा है। उसके समाधान के जो भी प्रयास किए जाते हैं, वही इस समस्या के लिए और हानिकारक हो जाते हैं। यद्यपि भारत में यह समस्या प्रारंभ में नहीं थी, क्योंकि भारत की जो सांस्कृतिक परम्परा थी वह बहुत ही व्यवस्थित और विद्या आधारित थी। किंतु बाद के दौर में कुछ तंत्रों ने निहित स्वार्थ के वशीभूत होकर विद्या के स्थान पर शिक्षा को प्रतिस्थापित करने का प्रयास किया, जिसका दुष्परिणाम यह हुआ कि भारत भी इन समस्याओं से न केवल ग्रस्त हुआ बल्कि उसके उचित समाधान 'विद्या' की प्रतिस्थापना का कार्य भी निरंतर उपेक्षित होने लगा।

विद्या शिक्षा का भेद

मैंने जो प्रश्न यहाँ पर समकालीन वैश्विक समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में उठाया है, वह प्रश्न कुछ सुधीजनों को उद्वेलित करने वाला प्रतीत हो सकता है; किंतु बिना उद्वेलित हुए समस्या का समाधान निकालना संभव नहीं है। इसी परिप्रेक्ष्य में यह विषय यहाँ पर निरूपित किया जा रहा है। यूं तो वर्तमान समय में भारत व शेष विश्व में विद्या और शिक्षा को प्रायः एक दूसरे का समानार्थी ही माना जा रहा है, किन्तु व्याकरण के दृष्टिकोण से ऐसा नहीं है। क्योंकि दोनों ही शब्दों के अर्थ एक-दूसरे से पर्याप्त भिन्नता लिए हुए हैं। शिक्षा की जब हम शास्त्रीय परिभाषा देखते हैं तो संज्ञान में आता है कि शिक्षा शब्द की उत्पत्ति *'शिक्ष्'* धातु में *'अ+टाप्'* प्रत्यय के संयोग से हुई है, जिसका

अर्थ होता है, अधिगम, अध्ययन, ज्ञानाभिकरण या किसी काम को करने के योग्य होने की इच्छा, निष्णात होने की इच्छा।[1] इसके अतिरिक्त जब हम संस्कृत वाङ्मय का अनुशीलन करते हैं तो भी हमारे संज्ञान में आता है कि वेद से लेकर 18वीं सदी तक प्रणीत किसी भी साहित्य में शिक्षा शब्द विद्या के रूप में प्रयुक्त नहीं हुआ है। यदि प्रयुक्त भी हुआ है तो उसका वह अर्थ नहीं है जो कि आज प्रचलित है। शिक्षा शब्द हमें वेदांग के छः अंगों में से एक अंग 'शिक्षा' के रूप में मिलता है, जिसका वर्णन मांडूक्योपनिषद के ऋषि निम्नवत करते हैं-

तत्रापरो ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदाऽथर्ववेदः।
शिक्षा कल्पो व्याकरण निरूक्तछन्दो ज्योतिषमिति।[2]

अर्थात, अपरा विद्या के अंतर्गत ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद के अनंतर शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष का उल्लेख है। जब ऋषि शिक्षा की बात करता है तो वह बात भी मात्र उच्चारण शास्त्र के ही रूप में करता है। पाणिनीय शिक्षा इस पर विस्तार से प्रकाश डालती है। पाणिनीय शिक्षा में लगभग 61 मंत्रों को सम्मिलित किया गया है और ये सभी उच्चारण विज्ञान पर ही प्रकाश डालते हैं।[3]

शिक्षा के विषय में तैत्तिरीयोपनिषद का द्वितीय अनुवाक जो शिक्षावल्ली के नाम से भी जाना जाता है, कुछ इसी प्रकार की बात करता है- *"शिक्षा व्याख्यास्यामः। वर्णः स्वरः मात्रा बलम्। साम सन्तानः।"* अर्थात हम शिक्षा की व्याख्या करते हैं जिसके अन्तर्गत वर्ण (अकारादि), स्वर (उदात्तादि), मात्रा (ह्रस्वादि), बल (शब्दोच्चारण में प्राण का प्रयत्न रूप), साम (एक ही नियम से उच्चारण करने का रूप), तथा सन्तान (संहिता) हैं।[4] इसी मंत्र की आदिशंकराचार्य कुछ इस प्रकार से व्याख्या करते हैं कि जिससे वर्णादि का उच्चारण सीखा जाये उसे शिक्षा कहते हैं, अर्थात जो सीखे जायें वे वर्णादि ही शिक्षा हैं।[5] ऋग्वेद के भाष्यकार सायण ने भी शिक्षा के परिप्रेक्ष्य में कुछ इसी प्रकार का वर्णन प्रस्तुत किया है- *"स्वरवर्णाद्युच्चारण प्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षा"* अर्थात स्वर, वर्ण आदि की उच्चारण विधियों की शिक्षा देना, उपदेश देना शिक्षा है।[6]

पठन-पाठन व उच्चारण शास्त्र विषय पर अनेक ऋषियों ने जो ग्रंथ लिखे हैं, वे सभी भी शिक्षा के रूप में ही प्रचलित हैं। वर्तमान में ऐसे उपलब्ध व संग्रहित ग्रंथों की संख्या 31 है। इन ग्रंथों में भी ऐसा ही निवेदन मिलता है जैसा कि उपर्युक्त विद्वानों ने किया है। इतना ही नहीं अपितु यह भी ध्यान में आया है कि ऋग्वेदीय शाकल संहिता, कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय संहिता, शुक्लयजुर्वेदीय माध्यन्दिन संहिता तथा अथर्ववेदीय शौनकीय संहिता में कहीं पर भी शिक्षा संज्ञापद के रूप में प्रयुक्त नहीं है। क्रियापद या विशेषणपद के रूप में ही इसका प्रयोग हुआ है।[7]

विधा शिक्षा के भेद का निहितार्थ

संपूर्ण विषय पर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो यह संज्ञान में आता है कि कुछ विशेष राजनैतिक व सामाजिक चिन्तन के कारण, 'विद्या' रूपी संज्ञा के स्थान पर प्रक्रिया रूपी 'शिक्षा' की प्रतिस्थापना कर दी गयी और जैसा पाश्चात्य परम्परा की मंशा थी, वैसा ही भारत में हुआ। आज जो वर्ग 'विद्या' के स्थान पर 'शिक्षा' को समझ कर अध्ययनशालाओं से बाहर निकलता है, वह वही बात कहता है जिसे कहने के लिए उसे तैयार किया गया है। ऐसा करके पाश्चात्य चिन्तनधारा के लोग न केवल स्वयं को प्रतिस्थापित करना चाहते थे बल्कि 'भारतीय विद्या' को भी हाशिए पर डालना चाहते थे, जिससे कि उन के निहितार्थ पूरे हो सकें। उनकी इस मंशा को कुछ उदाहरणों के माध्यम से आसानी से समझा जा सकता है। 23 जून 1853 को ब्रिटेन में एक पार्लियामेंट्री कमेटी के समक्ष एक गवाही के दौरान चार्ल्स ट्रेवलिन के शब्द हमें इस संबंध में पर्याप्त संकेत करते हैं। ट्रेवलिन मैकाले का बहनोई था तथा उसके साथ ही भारत में रहा। वह लगभग 12 वर्षों तक भारत में रहा जिनमें छ: वर्ष दिल्ली में तथा छ: वर्ष कलकत्ता में निवास किया। वह भारत के बारे में एक व्यापक दृष्टिकोण रखता था और ब्रिटिश हितों का पोषण कैसे हो यह भलीभांति समझता था। ट्रेवलिन ने कहा कि- *"... अपने यहाँ की शुद्ध स्वदेशी पद्धति के अनुसार मुसलमान लोग हमें (अंग्रेजों को) 'काफ़िर' समझते हैं, जिन्होंने कि इस्लाम की सर्वोत्तम बादशाहतें उनसे छीन ली हैं। ... उसी प्राचीन स्वदेशी विचार के अनुसार हिंदू हमें म्लेच्छ समझते हैं, अर्थात उस तरह के*

अपवित्र विधर्मी, जिनके साथ किसी भी तरह का सामाजिक संबंध नहीं रखा जा सकता और वे सभी मिलकर अर्थात हिंदू और मुसलमान दोनों हमें उस तरह के आक्रमणकारी विदेशी समझते हैं; जिन्होंने उनका देश उनसे छीन लिया है, और उनके लिए धन और मान प्राप्त करने के समस्त मार्ग बंद कर दिए हैं। ... यूरोपियन शिक्षा देने का नतीजा यह होता है कि भारतवासियों के विचार बिल्कुल दूसरी ओर मुड़ जाते हैं। पाश्चात्य शिक्षा पाए हुए युवक स्वाधीनता के लिए प्रयत्न करना बंद कर देते हैं। ... वे फिर हमें अपना शत्रु और राज्य अपहरणकर्त्ता नहीं समझते, बल्कि हमें अपना मित्र, अपना मददगार, बलवान और उपकारशील मनुष्य समझने लगते हैं। ... वे यह भी समझने लगते हैं कि भारतवासी अपने देश के पुनर्जीवन के लिए जो कुछ अच्छा कर सकते हैं, वह अंग्रेजों के संरक्षण में ही धीरे-धीरे संभव हो सकता है।"[8] ट्रेवलिन से भारतीय शिक्षा के स्थान पर पुनः अंग्रेजी शिक्षा लागू करने के परिप्रेक्ष्य में जब पूछा जाता है तो वह पुनः कहता है कि- *"... मुझे विश्वास है कि भारतवासियों को शिक्षा देने का अंतिम परिणाम यह होगा कि भारत और इंग्लिस्तान का पृथक हो सकना दीर्घ और अनंत काल के लिए टल जाएगा। ... यदि इसके विरुद्ध नीति का अनुसरण किया गया तो नतीजा यह होगा कि किसी भी समय हम भारत से निकाले जा सकते हैं और निस्संदेह बहुत जल्दी और बड़ी जिल्लत के साथ निकाल दिए जायेंगे।"*[9] इसी गवाही में ट्रेवलिन आगे और बताता है कि- *"... मैं एक रास्ता बता रहा हूँ जो हमारे समाज के स्थायित्व के लिए सबसे अधिक हितकर होगा। अनेक वर्षों तक खूब अच्छी तरह सोच समझ कर मैंने ये विचार कायम किये हैं। मुझे विश्वास है कि मैं इस विषय को पूरी तरह समझता हूँ। ... मैं एक परिचित उदाहरण आपके सामने पेश करता हूँ। मैं 12 वर्ष भारत में रहा, इनमें से पहले 6 वर्ष मैंने उत्तर भारत में गुजारे। मेरा मुख्य स्थान दिल्ली था। शेष छः वर्ष मैनें कोलकता में बिताये। जहाँ पर मैंने पहले छः वर्ष गुजारा, वहाँ पर शुद्ध देशी विचारों का राज था। वहाँ पर लगातार युद्ध और युद्धों की ही अफवाहें सुनने में आती थीं। उत्तर भारत में भारतवासियों की देशभक्ति केवल एक ही रूप धारण करती थी, वे हमारे विरूद्ध साजिशें कर रहे थे ... । ... उसके बाद मैं कलकत्ता आया। वहाँ मैंने बिल्कुल दूसरी*

हालत देखी। वहाँ पर लोगों का लक्ष्य था - स्वतंत्र अखबार निकालना, म्युनिसिपाल्टियाँ कायम करना, अंग्रेजी शिक्षा फैलाना, अधिकाधिक हिंदुस्तानियों को सरकारी नौकरियाँ दिलवाना; और इसी तरह की और अनेक बातें ...।"[10]

इस पर गवाही के लिए गठित कमीशन के लार्ड मोंटीगल ने ट्रेवलिन से पूछा कि – *"अब अनुमान कीजिए कि उन दोनों में से एक मार्ग का अनुसरण किया जाये, पहला यह कि भारतवासियों को शिक्षा देने और नौकरियां देने का विचार छोड़ दिया जाए और दूसरा यह कि उन्हें अधिक शिक्षा दी जाए और उचित अहतियात के साथ उन्हें अधिकाधिक नौकरियां दी जायें। आपकी राय में इन दोनों मार्गों में से किस मार्ग पर चलने से हिंदुस्तान और इंग्लिस्तान का संबंध अधिक से अधिक काल तक कायम रह सकता है।"*[11] तब ट्रेवलिन ने जो उत्तर दिया वह बहुत ही विस्मयकारी है। उस उत्तर के आधार पर समकालीन भारत की दशा और दिशा निर्धारित हुई। वह उत्तर था - *"निस्संदेह शिक्षा को बढ़ाने और भारतवासियों को अधिकाधिक नौकरियाँ देने से। मुझे इस बात में किसी प्रकार का जरा सा भी संदेह नहीं है।"*[12] जैसा कि सर्वविदित है कि बाद में सरकार ने भारत में 1857 में उच्च शिक्षा के दृष्टिकोण से कलकत्ता (अब कोलकता), बम्बई (अब मुम्बई) और मद्रास (अब चेन्नई) में अंग्रेजी शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए तीन विश्वविद्यालयों की स्थापना की। माध्यमिक स्तर पर ब्रिटिश सरकार पहले ही 1828 में देशी भाषा में शिक्षा देने पर प्रतिबंध लगा चुकी थी। यह व्यवस्था ब्रिटिश काल से लेकर आज तक यथावत बनी हुई है। थोड़ा बहुत जो परिवर्तन होता भी है, वह पाश्चात्य जगत के दृष्टिकोण से ही होता है। अतः यह शिक्षा प्राप्त करके जब व्यक्ति जगत में प्रतिष्ठित होता है तो वह भारत और उसकी व्यवस्थाओं में छिद्रान्वेषण ही करता है, और इसके लिए वह भारत और भारतीयों को ही उत्तरदायी भी मानता है। मैकाले भी यही चाहता था।[13] परन्तु दुर्भाग्य का विषय है कि 1947 के बाद से स्वतंत्र भारत में भारतीयों के शासन के अन्तर्गत भी इतना गंभीर मुद्दा परिवर्तन की प्रक्रिया का भाग नहीं बना। इसके कारणों की पड़ताल आवश्यक है। यद्यपि यह मुद्दा बार-बार उठाया तो जाता रहा तथापि आज तक समुचित समाधान प्राप्त नहीं हो सका। प्रश्न

यह है कि क्या हमारे पास विद्वानों की कमी है, जो शिक्षा और विद्या के भेद को समझकर पाठ्यक्रमों को बदल सके? या कोई विशेष निहितार्थ है, जो हमें ऐसा नहीं करने दे रहा है?

आज सही समय है कि हम इस विषय पर गंभीरता के साथ विचार करें कि भारत विद्या का पोषक देश था या शिक्षा का। यदि भारत का प्राण तत्व 'विद्या' थी और उसी के आधार पर भारत ने विश्वगुरु की उपाधि को अपनी मेधा से प्राप्त किया था, तो फिर शिक्षा भारत की मार्गदर्शिका कैसे बनी? और भारत ने अपने विश्वगुरुत्व को कैसे खो दिया? विद्या जो मुक्ति का माध्यम थी उसके स्थान पर शिक्षा ने मनुष्य को परतंत्र कैसे बनाया? जो विद्या सम्पूर्ण प्राणियों में समत्व भाव रखकर उनके हित संवर्धन की वाहक थी, वह कैसे एक वर्ग विशेष के कल्याण की पक्षधर बन गई? जब तक भारत में विद्या का पोषण होता रहा तब तक भारत दिनोंदिन प्रगति के नित नए सोपानों पर चढ़ता रहा। संपूर्ण विश्व भारत की ओर मार्गदर्शन और अपनी समृद्धि हेतु टकटकी लगाकर देखता था। संपूर्ण विश्व के किसी भी क्षेत्र का कोई भी काम भारत के हस्तक्षेप या प्रेरणा के अभाव में असंभव था; तभी तो बिल ड्यूरंट जैसे विश्व प्रसिद्ध इतिहासकार भारत के विषय में लिखते हैं कि- *"भारत हमारी नस्लों की माँ है, और संस्कृत यूरोपीय भाषाओं की माँ है, कि वह हमारे दर्शन की माँ है, अरबों के माध्यम से आए हमारे गणित की माँ है, बुद्ध के द्वारा ईसाइयत में सन्निहित करुणा की माँ है, गाँवों के द्वारा स्वशासन की माँ है। इस प्रकार भारत माता अनेक प्रकार से हमारी माँ है।"*[14] विद्या के बल पर पुनः संपूर्ण मानवता के साथ भारत कैसे एकात्मता स्थापित कर सकता है जो कि उसके यहाँ पहले ही विद्यमान थी; जैसे विषयों को ही इस पत्र का केंद्रबिंदु बनाना मुख्य उद्देश्य है तथा विद्या और शिक्षा का भेद भी स्पष्ट हो सके, यह भी प्रयास है।

विद्या की जैविक पृष्ठभूमि

भारतीय परंपरा का जो सबसे बड़ा वैशिष्ट्य है, वह यह है कि इसमें छोटी से बड़ी सभी चीजें एक-दूसरे से आपस में गुम्फित हैं और यह गुम्फन ही उसमें एकात्म भाव को

जागृत करता है। तैत्तिरीयोपनिषद का ऋषि इसी एकात्म भाव का निरूपण निम्नवत करता है- *"सृष्टि के आरंभ में सर्वशक्तिमान परमात्मा ने यह संकल्प लिया कि 'एकोऽहम बहुस्याम्' अर्थात मैं एक हूँ और बहुत होने की इच्छा रखता हूँ। इसी के आधार पर सृष्टि का विस्तार हुआ और इस विस्तार के लिए मनु व शतरूपा ने अनेक प्रकार से प्रभु का कार्य किया। उपनिषदकार कहता है कि छोटी से छोटी तथा बड़ी से बड़ी संपूर्ण सृष्टि का मूल आधार मनु-शतरूपा ही हैं। संसार में जितने भी प्राणी जलचर, थलचर, नभचर तथा जड़-चेतन जो भी पदार्थ हैं वे सभी इन्हीं के द्वारा उत्पन्न किए गए हैं।"*[15] इसी बात को विस्तार से समझाने के लिए महाभारत के ऋषि ने आदि पर्व के संभव उपपर्व में सृष्टि की उत्पत्ति पर प्रकाश डाला है। *"कश्यप ऋषि और उनकी 13 पत्नियों तथा उन पत्नियों की 37 और बहनें जिनमें 10 तो 'धर्म' की पत्नी थीं और 27 'चंद्रमा' की पत्नी थीं, के द्वारा सृष्टि नियमित करने का प्रयास किया गया। इस प्रकार सृष्टि के विस्तार तथा उत्पत्ति में कश्यप और उनकी 13 पत्नियों का महत्वपूर्ण योगदान है।"*[16] इस प्रकार से संपूर्ण सृष्टि का संबंध ऋषि कश्यप से है। ऋषि कश्यप सभी के आदि पिता हैं। इस प्रकार इस सृष्टि में सभी आपस में रक्त संबंधी हैं। इसमें कोई भेद नहीं है। उसी बात को तैत्तिरीयोपनिषद के ऋषि कुछ इस प्रकार से जोड़ते हैं कि- *"ब्रह्मवेत्ता परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। उसके विषय में यह (श्रुति) कही गई है- 'सत्यं ज्ञानमनन्तम् ब्रह्म' (ब्रम्ह सत्य, ज्ञान और अनंत है)। जो पुरुष इसे बुद्धि रूप परम आकाश में निहित जानता है, वह सर्वज्ञ ब्रह्म रूप से एक साथ ही सब भोगों को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से औषधियाँ, औषधियों से अन्न, अन्न से पुरुष उत्पन्न हुआ।"*[17] इस प्रकार यह जगत पंच तत्व (क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर) के द्वारा न केवल स्वयं बना है बल्कि औषधियां, अन्न और मानव की उत्पत्ति में भी सहायक है। इस प्रकार से सभी आपस में अंतर्संबंधित हैं। इसी अंतर्संबंध को विष्णु पुराण का ऋषि कुछ इस प्रकार से प्रतिस्थापित करता है कि- *"उत्तरं यत समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्; वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्र संतति:"*1[18] अर्थात जो समुद्र के उत्तर और हिमालय के दक्षिण में है वह देश भारत वर्ष कहलाता है, और उसमें

भारत की संतानें बसी हुई हैं। ये जो भारत की संतानें हैं, वे आपस में जैविक रूप से आबद्ध हैं। इसी बात को अथर्ववेद का पृथ्वीसूक्त कुछ इस प्रकार से प्रतिस्थापित करता है - *"माताभूमि पुत्रोऽहम् पृथिव्याः"। (अथर्ववेद 11/1/12)* अर्थात, यह भूमि मेरी माता है और मैं इसका पुत्र हूँ। इस प्रकार से संपूर्ण संस्कृत वाङ्मय में किसी न किसी प्रकार से व्यक्ति का न केवल सभी प्राणियों में पारस्परिक संबंध स्थापित किया जा रहा है बल्कि इस पृथ्वी के साथ भी उसका मातृवत संबंध है, ऐसा उसे भान भी कराया जा रहा है। इसलिए प्राणी न केवल प्राणीमात्र में समत्व का दर्शन कर रहा है, बल्कि वह इस पृथ्वी के सभी पदार्थों में भी आत्म का ही दर्शन करता है। इसी कारण ईश उपनिषद् के ऋषि संपूर्ण सृष्टि में ईश्वर के दर्शन की बात करते हैं- *"ईशा वास्यमिदम् सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥"*[19] अर्थात, इस जगत में जो कुछ भी स्थावर-जंगम संसार है, वह सब ईश्वर के द्वारा आच्छादित है, अर्थात वह ईश्वर स्वरूप ही है। उस ईश्वर को साथ रखते हुए त्याग पूर्वक इसे भोगो, इसमें आसक्त मत होओ, क्योंकि धन-भोग्य पदार्थ किसका है? अर्थात किसी का भी नहीं। इस प्रकार वेद, उपनिषद् तथा पुराण सभी इस पृथ्वी, सृष्टि और प्राणीमात्र का आपस में संबंध स्थापित कर रहे हैं और भ्रातृभाव का जागरण भी कर रहे हैं। यही भाव हममें समत्व की स्थापना करता है और हम कल्याण मंत्र के रूप में *"सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः, सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मां काश्चिद् दुःखभाग भवेत्"*[20] की कामना करते हैं। यही कामना विद्या को जन्म देती है। अब प्रश्न उठता है कि विद्या क्या है? और इसकी आवश्यकता क्यों अनुभव की गई? क्या इसके अभाव में सृष्टि का कल्याण संभव नहीं है? क्या इसके बिना संसार में भ्रातृभाव की स्थापना नहीं हो सकती? और क्या यह मनुष्य को मनुष्यत्व के साथ जोड़ने में सक्षम है? तो आइए इन्हीं सब विषयों के संबंध में विद्या की पड़ताल करते हैं।

विद्या का अर्थ

विद्या शब्द की उत्पत्ति संस्कृत की *'विद्'* धातु *(विद्+क्यप+टाप)* से हुई है,

जिसका अर्थ होता है जाना हुआ। अर्थात ज्ञान या अवगम्।[21] संस्कृत वाङ्मय में यह संज्ञा के रूप में जानी जाती है।[22] इस प्रकार जो जाना हुआ है या जानने योग्य है, वह विद्या की श्रेणी में आता है। वेद में भी विद्या शब्द ही प्रयुक्त हुआ है।[23]

इस प्रकार विद्या से अभिप्राय उस ज्ञान से है जो न केवल भौतिक दृष्टिकोण से प्राणी मात्र का कल्याण करे, अपितु उसको संपूर्ण सृष्टि के साथ तादात्म्य स्थापित करने के लिए अभिप्रेरित भी करे। विद्या न केवल इस लोक के कल्याण की बात को प्रश्रय देती है, बल्कि मनुष्य या प्राणी मात्र के परलोक और अगले जन्मों को भी उन्नत करने के दृष्टिकोण से सक्रिय रहती है। तभी तो मुंडकोपनिषद का ऋषि विद्या को कुछ इस प्रकार से परिभाषित करता है- "संपूर्ण देवताओं में पहले ब्रह्मा उत्पन्न हुए। वे विश्व के रचयिता और त्रिभुवन के रक्षक थे। उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को समस्त विद्याओं की आश्रयभूत ब्रह्म विद्या का उपदेश दिया। फिर यह विद्या अथर्वा से अंगी के पास आई और अंगी ने भारद्वाज के पुत्र सत्यवाह को बताई। बाद में सत्यवाह ने यह विद्या अंगिरा से कही, और इस प्रकार यह विद्या ज्येष्ठ से होती हुई कनिष्ठ के पास आई। फिर इस विद्या को सीखने की इच्छा लेकर शौनक नामक महागृहस्थ ने अंगिरा के पास जाकर पूछा– 'भगवन! किसके जान लिए जाने पर यह सब कुछ जान लिया जाता है? तब अंगिरा ने शौनक से कहा *"द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्तिपरा चैवापरा च"* - अर्थात ब्रह्मवेत्ताओं ने कहा है कि दो विद्याएं जानने योग्य हैं- एक परा है और दूसरी अपरा है। ऋषि परा और अपरा के स्वरुप पर प्रकाश डालते हैं- वे कहते हैं कि अपरा में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छंद, और ज्योतिष सम्मिलित हैं; तथा परा में मात्र अक्षर परमात्मा का ज्ञान सम्मिलित है।"[24]

इस परिभाषा से यह तो स्पष्ट होता ही है, कि अपरा में जो विषय सम्मिलित हैं वे क्षरणशील हैं जबकि परा में अक्षर ब्रह्म सम्मिलित है, जिससे यह संपूर्ण जगत व्याप्त है। किंतु इन दोनों के ही सम्यक ज्ञान से मनुष्य मात्र का कल्याण है। इस बात को परम ऋषि कणाद ने अपने वैशैषिक दर्शन में कुछ इस प्रकार व्यक्त किया है- *'यथोऽभ्युदय नि:श्रेयस सिद्धि:स:धर्म:'।*[25] यानि, जिससे अभ्युदय अर्थात इहलौकिक सुख किंवा

जीवन मुक्ति और नि:श्रेयस (मोक्ष) की सिद्धि हो वही धर्म है। इस प्रकार जो भारतीय विद्या है, वह न केवल इस लोक के साधने पर बल देती है बल्कि मोक्ष की प्राप्ति भी उसका मुख्य साधन है; और इस विद्या के लिए धर्म महत्वपूर्ण कारक है। यह धर्म भारतीय परंपरा में देश-काल परिस्थिति के अनुरूप परिवर्तित होता रहता है; किंतु इसके भी कुछ लक्षण ऋषि ने बताए हैं, वे इस प्रकार हैं- *"धृति:क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रह:। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम्।।"*[26] अर्थात धैर्य, क्षमा, दम (विकार का हेतु उपस्थित होने पर भी मन को उसमें न लगाना ही दम कहलाता है), अस्तेय (पराए धन में आसक्ति न होना), शौच (पवित्रता), इन्द्रिय निग्रह (इंद्रिय नियंत्रण), धीर (शास्त्रार्थ ज्ञान), विद्या (अपरा और परा की समझ, क्योंकि इसी से व्यष्टि से समष्टि के भाव की प्रतीति होती है। यदि इसका ज्ञान नहीं है तो शेष व्यर्थ ही है), सत्य तथा क्रोध का नियमन, ये दस, धर्म के लक्षण हैं। स्मृतिकार कहता है यदि कोई मनुष्य इन गुणों से विभूषित नहीं है तो वह धार्मिक नहीं हो सकता। यह धर्म सनातन है, इसलिए कणाद जिस धर्म की बात कहते हैं, ये सभी उसी धर्म के लक्षण हैं। यह ध्यान रखने योग्य विषय है। यदि ऐसा होता है तभी मानव में समत्व के भाव का जागरण संभव है। जैसे ही यह भाव आता है, वैसे ही मनुष्य सभी में ईश्वर देखने लगता है। यही ईश उपनिषद का मुख्य हेतु है। ईशोपनिषद् भी आगे चलकर विद्या को जिस प्रकार से परिभाषित करता है, वह भी समत्व भाव की ही पुष्टि करता है- ऋषि कहता है कि जो अविद्या (कर्म) की उपासना करते हैं वे (अविद्या रूपी) घोर अंधकार में प्रवेश करते हैं और जो विद्या (उपासना) में ही रत हैं, वे मानो उससे भी अधिक अंधकार में प्रवेश करते हैं- *"अंधंतम: प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते। ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायांरत:।।"* इस श्लोक में ऋषि ने अति पर विराम की बात कही है। यही बात प्रकारांतर से कणाद धर्म की परिभाषा में कहते हैं। भारतीय परंपरा का जो वैशिष्ट्य है, वह प्रवृत्त होते हुए भी उसमें आसक्त न होना ही है। इसी भाव को श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान श्री कृष्ण ने निरासक्त भाव या निस्पृह भाव के रूप में अर्जुन को समझाया है।[28] तब फिर प्रश्न उठता है कि सम्यक ज्ञान क्या है? ऋषि इसकी प्रक्रिया समझाते हैं। वे कहते हैं कि विद्या (देव ज्ञान) से और ही

फल बतलाया गया है, तथा अविद्या (कर्म) से और ही फल बतलाया गया है। ऐसा हमने बुद्धिमान पुरुषों से सुना है, जिन्होंने हमारे प्रति उसकी व्यवस्था की थी।[29] ऋषि यहाँ पर विद्या और अविद्या के भेद और उसके परिणाम की व्याख्या करते हैं और अगले श्लोक में इसकी सम्यकता की विवेचना प्रस्तुत करते हैं। ऋषि कहते हैं कि – *"विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदो भयंसह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।"*[30] अर्थात जो विद्या और अविद्या इन दोनों को ही एक साथ जानता है, वह अविद्या से मृत्यु को पार करके विद्या से अमरत्व प्राप्त करता है। अर्थात किसी भी मनुष्य के लिए विद्या और अविद्या के भेद को समझे बिना, उसे व्यावहारिक रूप से क्रियान्वित किए बिना न तो जन्म बंधन के चक्र से मुक्ति मिल सकती है, और ना ही वह अपने प्रारब्ध को उन्नत कर सकता है। इतना ही नहीं इन दोनों में सम्यकता के अभाव में व्यष्टि और समष्टि की जो यात्रा है या प्रतीति है उसको भी नहीं पाया जा सकता। अत: विद्या न केवल आपके इहलोक को पुष्ट करती है बल्कि परलोक को भी उन्नत करती है। यही ऋषि की विवेचना है। इसी बात को विष्णु पुराण का ऋषि भी बल प्रदान करते हुए कुछ इस प्रकार अपना विषय प्रतिपादित करता है- *"विद्या बुद्धिरविद्यायाम ज्ञानान्तात जायते। बालोऽग्निं किं न खद्योत मसुरेश्वरमन्यते।।"*[31] अर्थात, अज्ञान के कारण ही मनुष्यों की अविद्या में विद्या बुद्धि होती है। बालक क्या अज्ञानतावश खद्योत (जुगनू) को ही अग्नि नहीं समझ लेता है? यहाँ पर ऋषि उन पर कटाक्ष करता है, जो अविद्या को ही अज्ञानतावश विद्या का रूप माने हुए हैं। ऐसा ही क्या समकालीन विश्व में नहीं हो रहा है। इसी अज्ञानता के वशीभूत ही हम नित्य नयी समस्याओं को तो जन्म दे रहे हैं, किंतु उसका समाधान नहीं निकल रहा है। समाधान के नाम पर भी हम समस्याओं को ही पाल रहे हैं। यह विडंबना नहीं तो और क्या है? इसी बात को अगले श्लोक में ऋषि पुन: समझाने का प्रयास करता है। वह कहता है कि – *"तत्कर्म यन्न बंधाय सा विद्या या विमुक्तये। आयासायापरं कर्म विद्यान्या शिल्पनैपुणम्।।"*[32] अर्थात, कर्म वही है जो बंधन का कारण ना हो, और विद्या वही है जो मुक्ति की साधिका हो। इसके अतिरिक्त और कर्म तो परिश्रम रूप तथा अन्य विद्याएं कला-कौशल मात्र ही हैं। ऋषि स्पष्ट करता है कि यदि कोई कर्म बंधन कारक है

तो वह कर्म नहीं है; ठीक उसी प्रकार से जैसे यदि कोई विद्या आपको जकड़ती है तो वह विद्या नहीं है; क्योंकि जैसे कर्म का स्वभाव बंधनों से मुक्ति है, वैसे ही विद्या का परिणाम भी समस्त वासनाओं से मुक्ति है। और यदि ऐसा नहीं होता तो यह मानना चाहिए कि ना तो वह कर्म, कर्म है और ना वह विद्या, विद्या। तो फिर वह क्या है? ऋषि उस कर्म को जो बंधनकारी है मात्र और मात्र श्रम मानता है तथा उस विद्या को जो वासनाओं से युक्त करती है को मात्र और मात्र कला-कौशल मानता है। भगवान श्री कृष्ण श्रीमद्भागवतगीता में इसी बात को सात्विक कर्ता के द्वारा कुछ इस प्रकार समझाते हैं कि- *"मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साह समन्वित:। सिद्धयसिद्धयोर्निर्विकार: कर्ता सात्विक उच्यते॥"*[33] अर्थात, जो कर्ता संग रहित, अहंकार के वचन ना बोलने वाला, धैर्य और उत्साह से युक्त तथा कार्य के सिद्ध होने और ना होने में हर्ष, शोक आदि विचारों से रहित हैं, वह सात्विक कहा जाता है। यदि विषय के गाम्भीर्य को समझें तो ऐसा कर्ता विद्या के द्वारा ही तैयार होता है। संपूर्ण सृष्टि में इस प्रकार के कर्ताओं का आधिक्य या प्राबल्य ही एकमात्र शांति की गारंटी है। इसके बाद वे पुनः अर्जुन को कर्म की भूमिका समझाते हुए बताते हैं कि- *"प्रवृतिम् च निवृतिं च कार्या कार्य भयाभये। बंधं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धि: सा पार्थ सात्विकी॥"*[34] अर्थात, हे पार्थ जो प्रवृति मार्ग (गृहस्थ में रहते हुए फल और आसक्ति को त्याग कर भगवदर्पण बुद्धि से केवल लोक शिक्षण के लिए राजा जनक की भांति बरतने का नाम प्रवृत्ति मार्ग है) और निवृत्ति मार्ग (देहाभिमान को त्याग कर केवल सच्चिदानंद परमात्मा में एकीभाव से स्थिर हुए श्री शुकदेव जी और सनकादियों की भांति संसार में उपराम होकर विचरने का नाम निवृत्ति मार्ग है) को, कर्तव्य और अकर्तव्य को, भय और अभय को, तथा बंधन और मोक्ष को यथार्थ जानती है, वह बुद्धि सात्विक कही जाती है। यहाँ पर यह ध्यातव्य है कि सात्विक बुद्धि से ही सात्विक कर्ता का भाव जागृत होता है। यदि ऐसा हो पाता है, तो वही विद्या की प्राप्ति है, और ऐसा नहीं है तो वह अविद्या है, अज्ञान है। छांदोग्योपनिषद में नारद-सनतकुमार संवाद इसी बात को विस्तार से समझाने का प्रयास करता है। इसी को प्रकारांतर से छांदोग्योपनिषद का ऋषि कुछ इस प्रकार से निरूपित करता है कि- 'एक

बार नारद सनतकुमार के पास गए और बोले कि प्रभु मुझे आप उपदेश दीजिए। तब, सनतकुमार जी ने नारदजी से कहा कि आप जो भी कुछ जानते हैं पहले वह बताएं। तदोपरांत मैं आपको उससे आगे का उपदेश दे सकूंगा। तब नारद जी ने वही कहा जो कि अविद्या और परा के रुप में क्रमशः ईशोपनिषद् और मुंडकोपनिषद् में ऋषियों ने कही है; वह इस प्रकार है कि- भगवन! मुझे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद याद है; (इसके सिवा) इतिहास, पुराण, पाँचवा वेद, वेदों का वेद (व्याकरण), श्राद्धकल्प, गणित, उत्पाद ज्ञान, निधि शास्त्र, तर्कशास्त्र, नीति, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षेत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सूर्यविद्या (शास्त्र मंत्र) और देव-जन विद्या, नृत्य, संगीत आदि, हे भगवन! यह सब मैं जानता हूँ। आद्य जगतगुरु शंकराचार्य जब इसी का भाष्य करते हैं तो वे नारद जी के द्वारा बताए गए विषयों की थोड़ी व्याख्या विस्तार से कर देते हैं; वह भी मैं यहाँ पर देना समीचीन समझता हूँ- हे भगवन! मैं ऋग्वेद का अध्ययन कर चुका हूँ। अर्थात मुझे ऋग्वेद स्मरण है (यहाँ अध्ययन वाचक पद का स्मरण अर्थ क्यों किया गया? क्योंकि 'यदवेत्थ' ऐसा कहकर विज्ञान के विषय में प्रश्न किया गया है। तथा यजुर्वेद, सामवेद और चौथा अथर्ववेद जानता हूँ, 'वेद' शब्द प्रसंगत: प्राप्त होने के कारण इतिहास, पुराण रूप पांचवा वेद, महाभारत सहित पांचों वेदों का वेद अर्थात व्याकरण, क्योंकि व्याकरण के द्वारा ही पदादि के विभागपूर्वक ऋग्वेदादि का ज्ञान होता है, पित्र्य, श्राद्धकल्प, राशि-गणित, दैव-उत्पात ज्ञान, निधि-महाकालादि, निधिशास्त्र, वाकोवाक्य-तर्कशास्त्र, एकायन-नीतिशास्त्र, देवविद्या, निरुक्त, ब्रह्मविद्या, ब्रह्म अर्थात् ऋग्यजु: सामसंज्ञक वेदों की विद्या अर्थात शिक्षा, कल्प, छंद, और चिति, भूतविद्या, भूत शास्त्र, क्षत्रविद्या-धनुर्वेद, नक्षत्र विद्या, ज्योतिष, सर्पदेवजन विद्या अर्थात् सर्प विद्या, गारुड़ और देवजनोविद्या-गंधयुक्ति तथा नृत्य-गान, वाद्य और शिल्पादि विज्ञान ये सब हे भगवन! में जानता हूँ)।

एक बात तो यहाँ पर ध्यान देने योग्य है कि जब मुंडकोपनिषद् में अंगिरा, शौनक ऋषि को परा विद्या के विषय में बताते हैं तो वहाँ मात्र चारों वेद और वेदांग का ही उल्लेख करते हैं, लेकिन छांदोग्योपनिषद में जब नारदजी, सनतकुमार जी को अपने द्वारा

अध्ययन की हुई विद्या की सूची बताते हैं तो वह बहुत लंबी है; उसमें कुल मिलाकर 20 विषयों का उल्लेख होता है। इससे दो बातें ध्यान में आती है कि- पहली बात यह कि मुंडकोपनिषद, छांदोग्योपनिषद की तुलना में अधिक पुराना है और मुंडकोपनिषद के समय तक वेद और वेदांग के अतिरिक्त अन्य विषयों का प्रचलन नहीं हुआ था; दूसरी बात यह कि यदि वह हो भी गया होगा तो उन्हें पृथक् से उल्लेख करने की परंपरा नहीं थी; तभी तो अंगिरा मात्र वेद और वेदांग की बात शौनक को बताते हैं। लेकिन जो भी हो, विद्या के मुद्दे पर मुंडकोपनिषद और छांदोग्योपनिषद दोनों ही एकमत हैं। फिर नारद सब विषयों का वर्णन करके सनतकुमार से कहते हैं कि- हे भगवन! मैं केवल मंत्रवेत्ता ही हूँ, आत्मवेत्ता नहीं हूँ। वे फिर मंत्रवेत्ता और आत्मवेत्ता के भेद को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि मैंने ऐसा सुना है कि आत्मवेत्ता शोक को पार कर लेते हैं। यही बात परा और विद्या के परिप्रेक्ष्य में मुंडकोपनिषद और ईशोपनिषद में ऋषिगण कहते हैं, अर्थात शोक से मुक्ति, मृत्यु से मुक्ति, आदि-आदि के लिए विद्या का समग्रता में होना अति अनिवार्य है। और भगवन! क्योंकि मैं मंत्रवेत्ता हूँ इसलिए शोक करता हूँ; अतः आप मुझे शोक से मुक्त कर दीजिए। तब सनतकुमार ने कहा कि नारद तुम यह जो कुछ जानते हो वह नाममात्र ही है। वे फिर आगे कहते हैं कि तुमने जो 20 विषय (विषयों की संख्या मेरे द्वारा प्रस्तुत है) मुझे बताए हैं वे बस नाम मात्र ही है। अतः तुम नाम की ही उपासना करो। फिर सनतकुमार नाम के विषय और महत्व को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि- नारद जो व्यक्ति नाम की 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है, उसकी जहाँ तक गति होती है वहाँ तक पहुंच जाता है। इसलिए तुमने जिसकी उपासना की उसको प्राप्त कर लिया। नाम से शोक को पार नहीं किया जा सकता। नारद को अतीव आश्चर्य होता है और वे इसी आश्चर्य में सनतकुमार से पूछते हैं कि प्रभु क्या नाम से भी अधिक कुछ है? सनतकुमार कहते हैं कि हाँ, नाम से भी अधिक है। तब नारद सनतकुमार से बहुत ही विनम्र भाव से प्रार्थना करते हैं कि- हे भगवन! मुझे तो आप वही बताइए।

हमने अभी कुछ उपनिषदों का उल्लेख किया है, और उनमें विद्या के परिप्रेक्ष्य में इहलोक और परलोक से संबंधित ज्ञान के संबंध में विचार स्पष्ट रूप से आया है। बिना

दोनों के साधे विद्या अपूर्ण है, और जैसे ही दोनों को साध लिया जाता है जीवन में समत्व की स्थापना हो जाती है, और व्यक्ति परमानंद को प्राप्त हो जाता है। सनतकुमार भी नारद को यही समझाते हैं कि तुमने मात्र नाम के माध्यम से ही इहलोक को समझा या साधा है, किंतु इहलोक का जो आधार है उसके विषय में तुम निरे कोरे हो। उसको साधने के बाद ही तुम्हारी समस्या का हल हो सकता है। इसलिए हे नारद तुम उसकी उपासना करो जो नाम से भी परे है।[35] इस प्रकार से सनतकुमार नारद को नामादि के महत्व से परिचित करवाते हैं, और तब जाकर नारद पूर्णत्व को प्राप्त होते हैं, और शोकादि विचारों से मुक्ति मिलती है। अतः यह ध्यातव्य है कि मुक्ति के लिए अध्ययन समग्रता में आवश्यक है। चाहे वह नारद हों, जो कि ब्रह्मा के मानस पुत्र हैं या साधारण मनुष्य।

तैत्तिरीयोपनिषद विद्या के उत्स को अधिक विस्तार से समझाने का प्रयत्न करता है। भारतीय परंपरा में विद्या का मुख्य हेतु जहाँ एक ओर विहित ऋणों से मुक्ति है, वही दूसरी ओर परमानंद की प्राप्ति भी है। किंतु इसमें एक गतिशीलता है। बिना गतिशीलता के यह असंभव है। तैत्तिरीयोपनिषद में भृगुवल्ली इस पर विस्तार से प्रकाश डालती है। भृगु बड़े महान ऋषियों की श्रेणी में आते हैं। एक बार वे अपना अध्ययन पूर्ण करने के बाद अपने यशस्वी पिता वरुण के सम्मुख उपस्थित हुए और कहा कि भगवान! मुझे ब्रह्म का बोध कराइए। तब वरुण ने अपने पुत्र भृगु से कहा कि अन्न, प्राण, नेत्र, श्रोत, मन और वाक ये ब्रह्मविद्या के उपलब्धि द्वार हैं। किंतु भृगु! जिससे यह सब भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने के उपरांत जिसके आश्रय से जीवित रहते हैं, और अंत में विनाश उन्मुख हो कर जिसमें लीन होते हैं, उसे विशेष रूप से जानने की इच्छा कर; वही ब्रह्म है। ऐसा सुनकर भृगु तपस्या में लीन हो गए और कुछ समय उपरांत अपने पिता के सम्मुख उपस्थित हुए। भृगु ने इस तप की अवस्था में अन्न को ब्रह्म मान कर अनुशीलन किया। और ऐसा जानकर कि अन्न ही ब्रह्म है वह अपने पिता के पास आये और ब्रहम विद्या का उपदेश देने का निवेदन किया। तब वरूण ने भृगु से कहा कि ब्रह्म को तप के द्वारा जानने की इच्छा कर, तप ही ब्रह्म है; तब भृगु पुनः तप में रत हुए और उन्होंने जाना

कि प्राण ही ब्रह्म है। ऐसा जानकर भी अपने पिता के सम्मुख उपस्थित हुए और ब्रह्मविद्या का उपदेश देने का निवेदन किया। तब पुनः वरुण ने भृगु से कहा कि तप से ही ब्रह्म को जानने की इच्छा कर क्योंकि तप ही ब्रह्म है ऐसा जानकर भृगु पुन: तप में लीन हुए कुछ समय बाद मन ही ब्रह्म है ऐसा जानकर अपने पिता के सम्मुख उपस्थित हुए और उनसे ब्रह्मविद्या के उपदेश का निवेदन किया। पुनः वरुण ने भृगु से तप से ब्रह्म को जानने की इच्छा का उपदेश दिया। भृगु ऐसा जान फिर तप में लीन हुए और कुछ समय उपरांत विज्ञान को ब्रह्म समझ कर अपने पिता के सम्मुख उपस्थित हुए और ब्रह्म विद्या का उपदेश देने का निवेदन किया। पिता ने पुनः वही उत्तर दिया- हे भृगु! तप से ब्रह्म को जानने की इच्छा कर तप ही ब्रह्म है। भृगु ऐसा उपदेश लेकर पुन: तप में लीन हुए और कुछ समय उपरांत यह जानकर कि आनंद ही ब्रह्म है अपने पिता के सम्मुख उपस्थित हुए। पिता से पुन: उपदेश का निवेदन किया। इस बार पिता वरुण ने सर्व प्रकार से समझ लिया कि पुत्र भृगु ने अन्नमयकोष, प्राणमयकोष, मनोमयकोष, विज्ञानमयकोष तथा इन सबका अभीष्ट आनंदमयकोष को समझ लिया है। यही जीवन का सार है। सभी क्रियाकलाप इसी आनंद के लिए संपादित होते हैं। इस आनंद से परे कुछ भी नहीं है। सभी कुछ इसी में समाहित है। इस प्रकार वरुण ने भृगु को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया।[36] सही अर्थों में जो सर्वकल्याणकारी आनंद प्रदायक है, वही ब्रह्मविद्या है। इस प्रकार से जिस विद्या में आनंद नहीं है, वह कुछ भी हो सकती है, किंतु विद्या नहीं। विद्या का मुख्य उद्देश्य यही है कि वह साधक के जीवन को सर्वानंद से परिपूर्ण करके अभयम् प्रदान करे। भारतीय विद्या पर जब दृष्टिपात करते हैं तो यही दृष्टिगोचर होता है। किन्तु आधुनिक शिक्षा में इसका सर्वथा अभाव है। इसी अभाव के कारण मनुष्य में योग्यता का निर्माण नहीं हो पाता है, और योग्यता के अभाव में वह सुख की प्राप्ति का मार्ग खोजता है, जो कि उसके लिए कष्टकर होता है। इसीलिए हितोपदेश का ऋषि विद्या और सुख के मध्य सहज संबंध को स्पष्ट रुप से समझाने का प्रयास करता है। वह कहता है कि- *"विद्या ददाति विनयं, विनयाद्याति पात्रताम्। पात्रत्वाद धनम् वाप्नोति, धनात् धर्म तत: सुखम्।।*[37] अर्थात, विद्यावान में विनम्रता सहज ही होती है (क्योंकि वह

यत्पिंडेतत्ब्रह्मांडे की परंपरा समझता है) और विनम्रता से पात्रता आती है, पात्रता से धन आता है और उस धन से धर्म का पालन (जिसके कारण इहलोक और परलोक के रूप में प्रतिस्थापित होता है) और फिर मनुष्य सुख का उपभोग करता है। अर्थात, विद्या ही एकमात्र सुख का आधार है, क्योंकि विद्या के ज्ञान से ही विद्या और अविद्या दोनों को व्यक्ति साधने का प्रयत्न करता है। इसलिए संपूर्ण संस्कृत वांग्मय में विद्या से इतर अन्य कोई शब्द दृष्टिगोचर नहीं होता है। समस्त वेद, वेदांग, वेदांत, पुराण, महाभारत, महाकाव्य आदि-आदि विद्या से ही परिपूर्ण हैं। इसलिए मुंडकोपनिषद में विद्या के रूप में वेद एवं वेदांग (कुल 10 विषय) को ही सम्मिलित करते हैं, तथा एक अक्षर ब्रह्म अर्थात कुल 11 विषय। छांदोग्योपनिषद में यही बढ़कर 20 विषय हो जाते हैं और एक ब्रह्म अर्थात कुल 21। वामन शिवराम आप्टे के अनुसार विद्या 14 मानी गई है अर्थात- वेद (4), वेदांग (6), धर्म, तर्क, मीमांसा या न्याय और पुराण।[38] किंतु शुक्रनीति में विद्याओं की संख्या बढ़कर 32 हो गई, अर्थात देशकाल परिस्थितियों के अनुसार विद्याओं का ना केवल विभाजन हो रहा है, बल्कि विस्तार को भी प्राप्त हो रही है। ये विद्याएं निम्नवत हैं– 1-ऋग्वेद, 2-यजुर्वेद, 3-सामवेद, 4-अथर्ववेद; 5-आर्युर्वेद, 6-धनुर्वेद, 7-गंधर्ववेद, 8-स्थापत्य वेद (ये चारों वेदों के चार उपवेद हैं); 9-शिक्षा, 10-व्याकरण, 11-कल्प, 12-निरुक्त, 13-ज्योतिष, 14-छंद (ये 6 वेदांग हैं, देशकाल परिस्थिति के अनुसार इसके भी अनेक विषय हुए हैं और वे उपलब्ध भी हैं किंतु विषय को विस्तृत ना करने की दृष्टि से उनका उल्लेख करना समीचीन प्रतीत नहीं होता)[39]; 15-मीमांसा, 16-न्याय, 17-सांख्य, 18-वेदांत, 19-योग, 20-इतिहास, 21-पुराण, 22-स्मृति, 23-नास्तिक मत, 24-अर्थशास्त्र, 25-कामशास्त्र, 26-शिल्पशास्त्र, 27-अलंकारशास्त्र, 28-काव्य, 29-राष्ट्रभाषा, 30-सूक्ति शास्त्र, 31-यवनों का मत, 32-वैदेशिक धर्मग्रंथ- कुल मिलाकर 32।[40] सबसे आश्चर्य का विषय यह है कि इन सभी 32 विद्याओं में यवनों का मत और वैदेशिक धर्मग्रंथ आदि को भी सम्मिलित किया गया है। यह भारतीय औदार्य का न केवल परिचय देता है बल्कि विद्या की सही परिभाषा भी स्पष्ट करता है। दूसरा यह भी दृष्टिगोचर होता है कि शुक्र नीति के संकलन के समय तक जो कुछ भी भारत में

अध्ययन की दृष्टि से उपलब्ध था, वह सब विद्या का भाग बन चुका था; यवन शास्त्र और वैदेशिक धर्म ग्रंथों का सम्मिलित होना इस बात का प्रमाण है। अतः जिन को विद्या के अध्ययन से किसी प्रकार की परेशानी हो सकती है, शुक्रनीति उसका समाधान अत्यधिक सहजता से प्रस्तुत कर देती है। विद्या किसी के लिए भी समस्या नहीं अपितु समाधान ही हो सकता है; यह शुक्र नीति के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है।

संस्कृत वांग्मय में विद्या के गुण और स्वभाव पर भी पर्याप्त प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। यथा- *"येषां न विद्या न तपो न दानं, ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः। ते मर्त्यलोके भुवि भारभूता, मनुष्य रूपेण मृगाश्चरंति ।।"*[41] अर्थात, जिन मनुष्यों ने न तो विद्याध्ययन ही किया है, न तप ही किया है, न ज्ञान ही संपादन किया है, न सुशील आचरण ही किया है और न ही धर्म अनुष्ठान ही किया है, ऐसे मनुष्य इस मृत्यु लोक में केवल आकृति मात्र हैं, वास्तव में वह साधारण मृगों की तरह ही पृथ्वी पर भार रूप में हैं। ऋषि उचित ही कहता है क्योंकि विद्या विहीन का न तो इहलोक ही सधता है और न परलोक ही। ऐसा मनुष्य तो इस पृथ्वी पर पशुवत है। विद्या का महत्व सार्वकालिक रहा है और विद्या को सर्व प्रकार से श्रेष्ठ समझा गया है। शुक्र इसके विषय में कुछ इस प्रकार से लिखते हैं:- *"विद्या धनं श्रेष्ठतरं तन्मूलमितरद्धनं। दानेन वर्धते नित्यं न भाराय न नीयते।।"*[42] अर्थात, विद्या रूपी धन सभी धनों से श्रेष्ठ है, क्योंकि अन्य सभी धन विद्यामूलक ही हैं। बांटने से यह हमेशा बढ़ता है। यह ना तो भारी है और ना ही कोई छीन सकता है। इसलिए इसी धन की सब प्रकार से साधना करनी चाहिए क्योंकि यह जीवनपर्यंत तो सुख और श्री प्रदान करता ही है, मृत्यु उपरांत भी यह कल्याणकारी होता है। इसी बात को भर्तृहरि कुछ इस प्रकार से कहते हैं –

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकम् प्रच्छन्न गुप्तं धनम्;
विद्या भोग करी यशस्सुखकरी विद्या गुरूर्णाम् गुरू:।
विद्या बंधुजनो विदेश गमने विद्या परा देवता;
विद्या राजषु पूजिता न तु धनम् विद्या विहीन: पशु: ।[43]

अर्थात, विद्या मनुष्य का सर्वोपरि सौंदर्य और अंतर्निहित गुप्तधन है, विद्या से मनुष्य को भोग-विलास, सुयश और सुख आदि प्राप्त होते हैं। विद्या उपदेशकों की भी गुरू है। विद्या देश देशांतर में रहने वालों की बंधुजन है, और विद्या ही परमोत्कृष्ट देवता है। विद्या का सम्मान राजाओं द्वारा भी किया जाता है, धन का नहीं। विद्या के बिना मनुष्य पशु के समान है। यहाँ पर जिस विद्या को निरूपित किया गया है यह वही विद्या है जो विद्या और अविद्या के रूप में विख्यात है। क्योंकि जो गुण विशेष विद्या के परिप्रेक्ष्य में यहाँ पर बताए गए हैं, वे सभी उसी विद्या के वैशिष्ट्य को प्रकट करते हैं। यदि मनुष्य विद्या विहीन है तो वह स्वाभाविक रूप से पशुवत ही होगा, क्योंकि उसे लोक-परलोक के ज्ञान के अभाव में जीवन यापन करना होगा। इतना ही नहीं विद्या को पदार्थों में भी श्रेष्ठ माना गया है, क्योंकि ऋषि कहता है- *"सर्वद्रव्येषु विद्यैव द्रव्यमाहुर नुत्तमम्। अहार्यत्वादनर्धत्वाद क्षयत्वाच्च सर्वदा।।"* [44] अर्थात, विद्वान सब धनों में विद्या को ही उत्तम धन कहते हैं, क्योंकि चोर इसकी चोरी नहीं कर सकते। मूल्य देकर इसको खरीदा नहीं जा सकता, तथा दूसरों को देने से यह कम नहीं होता बल्कि बढ़ता है। एकमात्र धन ऐसा है जो कि बांटने से बढ़ता है। इसलिए विद्या दान सर्वोपरि दान कहा गया है, क्योंकि यह न केवल मनुष्य को स्वयं मुक्त करता है, बल्कि जिसको यह दान दिया जाता है यह उसको भी मुक्त करता है। इसलिए ऋषि ने 'विद्या धनम् सर्वधनम् प्रधानम्' कहा है।

भारत ने ऐसे धन पर ही अधिकार प्राप्त कर लिया था; और यही कारण था कि वह ना केवल भौतिक दृष्टिकोण से प्रगति के उच्च सोपानों को प्राप्त कर सका था, बल्कि पराभौतिक दृष्टिकोण से भी संपूर्ण जगत में उसका कोई सानी नहीं था। इस बात को डॉक्टर राम विलास शर्मा जी के शब्दों में सुगमता से समझा जा सकता है- *"थलेस, अनाक्सिनेन्द्र, अनाक्सिमेनस, क्सेनोफनेस, और हेराक्लितुस- ये पांचों एशिया के ही अलग-अलग जनपद के निवासी थे। यह बात मुरली मनोहर प्रसाद सिंह ने रामविलास शर्मा की पुस्तक पाश्चात्य दर्शन और सामाजिक अंतर्विरोध की भूमिका में लिखी है। वह इसी में आगे लिखते हैं कि रामविलास जी के अनुसार इन पांचों की ही विचारधारा उपनिषदों से मिलती जुलती है। यह समानता इतनी बड़ी और विस्तृत है कि यह*

आकस्मिक नहीं हो सकती। यूनानी दार्शनिकों से पहले वहाँ काव्य अथवा दर्शन की कोई परंपरा नहीं है ,जिससे उन्हें जोड़ा जाए। इसके विपरीत उपनिषदों से पहले ऋग्वेद की परंपरा है और उससे उन्हें जोड़ना सर्वथा उचित है। यूनान का प्रारम्भिक दर्शन भारतीय चिंतन से प्रभावित है।"[45] रामविलास शर्मा इसी पुस्तक में आगे लिखते हैं कि- *"यूनान के परमाणुवादियों ने बहुत से संसारों की बात कही, पर उससे ऊर्जा का संबंध नहीं जोड़ा। किर्क कहते हैं 'परमाणु असंख्य हैं और शून्य असीम है, इसलिए कोई कारण नहीं कि ऐसा विश्व केवल एक हो। अतः लडकिप्पुस और देमोक्रित्तुस ने असंख्य विश्वों की कल्पना की; समूचे शून्य में वे अस्तित्व में आते हैं फिर तिरोहित हो जाते हैं।" भारतीय सृष्टिक्रम की यह धारणा न केवल यूनानियों के लिए वरन उनके भाष्यकार किर्क के लिए भी अनोखी थी। वे कहते हैं, "वे पहले आदमी हैं जिनके बारे में हम पूरे निश्चय से कह सकते हैं कि असंख्य विश्वों की यह अनोखी धारणा (Odd Concept) उन्होंने प्रतिपादित किया। यह धारणा यूनान के लिए अनोखी थी, इसी से उसके भारतीय उद्भव का संकेत मिलता है। यह परमाणुवाद से जुड़ी है। इससे यूनान के इस दार्शनिक धारणा (अर्थात परमाणुवाद) के भारतीय स्रोत का पता चलता है।"*[46] रामविलास शर्मा न केवल अंग्रेजी के विद्वान थे बल्कि वे संस्कृत और हिंदी के भी ख्यातिलब्ध लेखक थे। संपूर्ण उपनिषदों पर उनका समान अधिकार से कार्य था। वे भलीभांति परिचित थे कि किस प्रकार वेद और उपनिषद ने न केवल पश्चिमी एशिया को बल्कि संपूर्ण पाश्चात्य जगत को प्रभावित किया है। 'ऋग्वेद और पश्चिम एशिया' तथा 'भारत का नवजागरण और यूरोप' इसी दृष्टिकोण से लिखी गई उनकी कालजयी कृतियाँ हैं। प्राचीन भारत से लेकर 18वीं सदी तक अनेक उदाहरण हमारे सम्मुख ऐसे हैं, जो कि विद्या को भारत की प्रगति का हेतु मानते हैं। परंतु बिना इस अवधारणा को अलग किए भारत में शिक्षा की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती थी, ऐसी बातें अंग्रेजों और उनके खैरख्वाहों के संज्ञान में थी। इसलिए उन्होंने ना केवल विद्या को हाशिए पर धकेला, बल्कि ऐसा ताना-बाना भी बुन दिया कि यदि कोई मध्यमार्ग में लाने के प्रयास भी करे तो वह समस्याग्रस्त हो जाए। समस्या विद्या को प्रतिस्थापित करना नहीं है, अपितु समस्या यह है कि विश्व किस

प्रकार से आनंद पूर्ण जीवन व्यतीत कर सके। आधुनिक शिक्षा प्रणाली के द्वारा यह संभव नहीं है। यही कारण है कि देश की आजादी से लेकर आज तक अनेक शिक्षा संबंधी सुधारों से जुड़े आयोगों और समितियों का गठन किया जा चुका है, किंतु परिणाम प्राप्त नहीं हो पा रहा है। वैश्विक स्तर पर भी यूनेस्को ने शिक्षा की समस्या से मुक्ति तथा इस सदी में विश्व कैसी शिक्षा पद्धति के आधार पर अपने को विकसित करेगा- इस दृष्टिकोण से 1993 में जैक्स डेलर की अध्यक्षता में एक 15 सदस्यीय कमीशन का गठन किया था। उसकी रिपोर्ट का 1996 में जेनेवा में वाचन हुआ। यह रिपोर्ट *'लर्निंग: द ट्रेजर विदिन'* के शीर्षक से प्रकाशित हुई। उस रिपोर्ट में वैश्विक समस्याओं को लेकर सात बड़ी चिंताएं हैं-

1. वैश्विक और स्थानीय के मध्य तनाव (Tension between global and local)
2. सार्वभौमिक और व्यक्तिवाद के मध्य तनाव (Tension between universal and individual)
3. परंपरा और आधुनिकता के मध्य तनाव (Tension between tradition and modernity)
4. दूरगामी और अल्पकालिक हितों के मध्य तनाव (Tension between long term and short term consideration)
5. प्रतियोगिता और अवसरों की समानता के मध्य तनाव (Tension between competition and equality of opportunity)
6. सूचनाओं का असीमित संसार और मनुष्य की इसको समाहित करने की सीमित क्षमता के मध्य तनाव (Tension between unlimited expansion of knowledge and the limited capacity of human being to assimilate)

7. अध्यात्म और भौतिकता के मध्य तनाव (Tension between spiritual and material)

ये सात मूलभूत चिंताएं 'शिक्षा' जनित हैं, और इनका समाधान 'विद्या' आधारित है। यह हमें तय करना है कि विश्व को समस्याग्रस्त बनाए रखना है या फिर उसे उस आनंद के शिखर पर पहुंचना है, जिससे वैश्विक कल्याण का मार्ग प्रशस्त हो सके। यह आनंद का मार्ग तभी प्रशस्त हो सकता है जब हम तैत्तिरीयोपनिषद में वर्णित निम्नलिखित दीक्षांत उपदेश को विद्यार्थी और आचार्य का ध्येय बना लें-

"'सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्।'

अर्थात, सत्य बोलो, धर्म का आचरण करो, स्वाध्याय में प्रमाद मत करो, आचार्य के लिए दक्षिणा के रूप में अभीष्ट धन लाकर दो फिर उनकी आज्ञा से गृहस्थ आश्रम में प्रवेश कर संतान परंपरा का उच्छेद न करो। सत्य से प्रमाद नहीं करना चाहिए। धर्म से प्रमाद नहीं करना चाहिए। ऐश्वर्य देने वाले मांगलिक कर्मों से प्रमाद नहीं करना चाहिए। स्वाध्याय और प्रवचन से प्रमाद नहीं करना चाहिए। देव और पितृकार्यों में प्रमाद नहीं करना चाहिए।

इस मन्त्र में समस्त विद्या जनित आज्ञाओं को उपदेश के रूप में शिष्य को समझाया गया है। इन्हीं सब विषयों पर हम इस पत्र में पूर्व में ही प्रकाश डाल चुके हैं। आगे ऋषि फिर दूसरे मन्त्र में कहता है कि-

'मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकंसुचरितानि। तानि तव्योपास्यानि। नो इतराणि।'

अर्थात, तुम माता में देवरूप समझने वाले बनो। पिता को देवस्वरूप समझने वाले होओ। आचार्य को देवस्वरूप समझने वाले होओ। अतिथि को देवस्वरूप समझने वाले होओ। जो अनिन्द्य कर्म हैं, उन्हीं का सेवन करना चाहिए, दूसरों का नहीं। हमारे (गुरू के) जो शुभ आचरण है तुम्हें उन्हीं का सेवन करना चाहिए, दूसरे का नहीं।

इस मन्त्र में समकालीन समस्त समस्याओं के समाधान उपलब्ध हैं किंतु हम विद्यार्थियों को इनसे अवगत नहीं करवाते, क्योंकि यह समस्त प्रावधान विद्या जनित है, शिक्षा जनित नहीं। शिक्षा मात्र स्वयं के हित (जो कि बृहद् परिप्रेक्ष्य में अहित ही होता है) की बात करती है, सर्वकल्याण की नहीं। विद्या सर्वकल्याणकारी होती है। तृतीय मन्त्र में ऋषि लोकाचरण की बात करता है-

'ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणा:। तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धयादेयम्। श्रियादेयम्। ह्रियादेयम्। भियादेयम्। संविदादेयम्।'

अर्थात, जो कोई भी हमसे श्रेष्ठ गुरुजन एवं ब्राह्मण आयें उनको तुम्हें आसन आदि के द्वारा सेवा करके विश्राम देना चाहिए। श्रद्धा पूर्वक देना चाहिए। अश्रद्धा पूर्वक नहीं देना चाहिए। आर्थिक स्थिति के अनुसार देना चाहिए। लज्जा पूर्वक देना चाहिए। भय मानते हुए देना चाहिए। और जो कुछ भी दिया जाय, वह सब विवेक पूर्वक देना चाहिए।

इस मन्त्र में विनम्रता का उपदेश है क्योंकि विनम्रता से ही पात्रता धन, धर्म और सुख की प्राप्ति होती है। ऋषि अगले मन्त्र में कहता है कि–

'अथ यदि ते कर्म विचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्। ये तत्र ब्राह्मणा: सम्मर्शिन:। युक्ता आयुक्ता:। अलूक्षा धर्मकामा: स्यु:। यथा ते तत्र वर्तेरन्। तथा तत्र वर्तेथा:। एष आदेश:। एष उपदेश:। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमु चैतदुपास्यम्।'

यदि तुझे कर्म या आचार के विषय में कोई संदेश उपस्थित हो तो वहाँ जो

विचारशील, कर्म में नियुक्त, आयुक्त (स्वेच्छा से कर्म-परायण), अलूक्ष (सरल मति) एवं धर्म अभिलाषी ब्राह्मण हों, उस प्रसंग में वे जैसा व्यवहार करें वैसा ही तू भी कर। यह आदेश है, विधि है, यह उपदेश है, यह वेद का रहस्य है और यह ईश्वर की आज्ञा है। इसी प्रकार तुझे उपासना करनी चाहिए। ऐसा आचरण करना चाहिए।"[44]

इस प्रकार से तैत्तिरीयोपनिषद में विद्यार्थी को दीक्षांत उपदेश दिया गया है। यह उपदेश संपूर्ण जीवन का अक्स शिष्य के सम्मुख ना केवल प्रस्तुत करता है, बल्कि उसके लाभ और हानि से भी परिचित कराता है। तदोपरांत एक प्रार्थना गुरु-शिष्य दोनों के द्वारा की जाती है। डेलर कमीशन की रिपोर्ट भी इस पर प्रकाश डालती है-

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै। ॐ शान्ति:।शान्ति:।।शान्ति:।।। [48]

पूर्ण ब्रह्म परमात्मा हम (आचार्य और शिष्य) दोनों की साथ-साथ रक्षा करे, हम दोनों का साथ साथ पालन करे, हम साथ साथ वीर्य (सभी प्रकार की शक्ति) प्राप्त करें, हमारी पढ़ी हुई विद्या तेजस्वी हो, और हम परस्पर द्वेष न करें। तीनों प्रकार के तापों की शांति हो, शांति हो, शांति हो।

अतः विद्या न केवल स्वयं के कल्याण की पोषक है, बल्कि वह गूढ़ार्थ में लोककल्याण की गारंटी प्रदाता भी है। व्यष्टि से समष्टि तक की यात्रा विद्या के अभाव में असंभव है। अतः सर्वकल्याण के लिए विद्या का व्यवहार न केवल समीचीन है बल्कि अपरिहार्य भी है। यह भी ठीक ही है कि इसको लागू करने में समकालीन तंत्र को परेशानी हो सकती है, और कुछ वर्ग विशेष को भी असुविधा का सामना करना पड़ सकता है; किन्तु भारत ही एक मात्र ऐसा देश है जिसने आदि काल से ही तंत्र की नहीं अपितु जन के हितों का संरक्षण किया है। जैसे ही जन के संरक्षण की प्रक्रिया पुष्ट होगी वैसे ही समष्टि के कल्याण का मार्ग भी प्रशस्त हो सकेगा। इस पत्र के लेखन का यही मुख्य उद्देश्य है।

संदर्भ

1. आप्टे, वामन शिवराम (2015). *संस्कृत हिंदी कोश (12 वां पुनर्मुद्रण संस्करण).* दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास. पृ० 1015.
2. मुण्डकोपनिषद – 1/1/5
3. मिश्र, नारायण (सं०) (2007). *पाणिनीय शिक्षा (चतुर्थ संस्करण).* वाराणसी: चौखम्भा पब्लिशर्स.
4. तैत्तिरीयोपनिषद् (संवत् 2072). *ईशादि नौ उपनिषद् (बारहवां पुनर्मुद्रण).* गोरखपुर: गीता प्रेस. पृ० 904.
5. तैत्तिरीयोपनिषद् (संवत् 2072). तदैव. पृ० 904.
6. *ऋग्वेदभाष्यभूमिका- सायणभाष्य.* पृ० 49.
7. तिवारी, प्रवीण कुमार (2010). *वैदिक संहिताओं में शिक्षा के समानार्थी सम्प्रत्ययों का विवेचनात्मक अध्ययन.* अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, वाराणसी: शिक्षा संकाय, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, पृ० 166.
8. सुंदरलाल (1938). *भारत में अंग्रेजी राज: खण्ड- तीन (त्रिवेणीनाथ बाजपेयी).* इलाहाबाद: ओंकार प्रेस. पृ० 1151.
9. सुंदरलाल (1938). तदैव. पृ० 1152.
10. सुंदरलाल (1938). तदैव. पृ० 1152.
11. सुंदरलाल (1938). तदैव. पृ० 1153.
12. सुंदरलाल (1938). तदैव. पृ० 1153.

13. *जॉन क्लाइव, टॉमस वैविंगटन, मैकाले: द शेपिंग ऑफ द हिस्टोरियन* (1973). सैकर एण्ड वार्वर्ग. पृ० 359.

14. *विल ड्यूरण्ट केस फॉर इण्डिया* (2011). मुंबई: स्ट्रैंड बुक स्टाल. पृ० 3.

15. *बृहदारण्यकोपनिषद: पन्द्रहवाँ पुनर्मुद्रण संस्करण* (संवत् 2068). गोरखपुर: गीता प्रेस. पृ० 176.

16. *महाभारत: चौदहवां पुनर्मुद्रण (आदि पर्व का संभव उपपर्व)* (संवत 2065). गोरखपुर: गीता प्रेस. पृ०पृ० 183-191.

17. तैत्तिरीयोपनिषद् (संवत् 2072). *ईशादि नौ उपनिषद्.* गोरखपुर: गीता प्रेस. पृ० 166.

18. *विष्णुपुराण: 39वां पुनर्मुद्रण (संवत 2067).* गोरखपुर: गीता प्रेस. 2/3/1

19. ईश उपनिषद, पहला श्लोक

20. लोंगाक्षी स्मृति

21. आप्टे वामनशिवराम, पृ० 935

22. तिवारी, प्रवीण कुमार(2010). तदैव, पृ० 165.

23. ऋग्वेद- प्रथममण्डल

24. मुण्डकोपनिषद (संवत 2072). *ईशादि नौ उपनिषद: 12वां पुनर्मुद्रण.* गोरखपुर: गीता प्रेस. पृ०पृ० 457- 463.

25. शास्त्री, पण्डितराज ढूंढीराज (वि.स. 2063). *कणाद-वैशेषिक दर्शन: प्रशस्तपाद भाष्य.* वाराणसी: चौखम्भा संस्कृत संस्थान. पृ० 9.

26. मनुस्मृति- 7/92

27. ईशोपनिषद- 9वां श्लोक

28. श्रीमद्भगवद्गीता, 2/42-44

29. ईशोपनिषद-10वां श्लोक

30. ईशोपनिषद-11वां श्लोक

31. *विष्णुपुराण: 39वां पुनर्मुद्रण (संवत 2067).* गोरखपुर: गीता प्रेस. 1/19/40

32. *विष्णुपुराण.* तदैव, 1/19/41

33. श्रीमद्भगवद्गीता, 18/26

34. श्रीमद्भगवद्गीता, 18/30

35. छान्दोग्योपनिषद: सोलहवां पुनर्मुद्रण (संवत 2068). गोरखपुर: गीता प्रेस. पृ०पृ० 655-58.

36. तैत्तिरीयोपनिषद् (संवत् 2072). तदैव. पृ० पृ० 990-1006.

37. हितोपदेश – 6वां श्लोक

38. वामनशिवराम आप्टे. पृ० 936.

39. विस्तार से समझने के लिए कल्पसूत्र, धर्मसूत्र, गृह सूत्र एवं संहिताओं आदि का भी दर्शन किया जा सकता है।

40. *शुक्रनीति: जगदीशचंद्र मिश्र की टीका (2009).* वाराणसी: चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन. चतुर्थ अध्याय- 27-28-29-30

41. भर्तृहरि. नीति शतकम, 13वां श्लोक

42. शुक्रनीति, 3/178

43. भृर्तृहरि. नीतिशतकम, 20वां श्लोक

44. हितोपदेश, कथामुख- 4

45. शर्मा, रामविलास (2001). *पाश्चात्य दर्शन और सामाजिक अंतर्विरोध की भूमिका (सं०- मुरली मनोहर प्रसाद सिंह).* नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ० x-xi.

46. शर्मा, रामविलास (2001). तदैव, पृ० 35.

47. तैत्तिरीयोपनिषद. एकादश अनुवाक, मन्त्र 1-4.

48. तैत्तिरीयोपनिषद. तदैव, ब्रह्मानन्दवल्ली, प्रथम अनुवाक.

प्रोफेसर चंद्र भूषण शर्मा, राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान (एनआईओएस) के अध्यक्ष हैं। डॉ. शर्मा ने अपनी डॉक्ट्रेरट की उपाधि हल विश्वविद्यालय (यूनाइटेड किंग्ड्म) से प्राप्त की जहाँ वे कॉमनवेल्थ वजीफे पर गए। वे लगभग तीन दशकों से मुक्त और दूरस्थ शिक्षा (ओडीएल) प्रणाली के क्षेत्र में कार्य कर रहे हैं। वे राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद् (एनसीटीई) की समीक्षा के लिए भारत सरकार द्वारा गठित समिति के सदस्य थे तथा वे भारत दूरस्थ शिक्षा परिषद् बिल का प्रारूप तैयार करने के लिए भारत सरकार द्वारा गठित तीन सदस्यों की समिति के सदस्य भी थे।

प्रोफेसर सी.बी. शर्मा ओडीएल के साथ-साथ विभिन्न क्षेत्रों पर पारंपरिक शैक्षिक संस्थाओं, राष्ट्रीय समितियों के विभिन्न सांविधिक निकायों के भी सदस्य रहे हैं जैसे 11वीं योजना, सर्वशिक्षा अभियान (एसएसए), राष्ट्रीय माध्यमिक शिक्षा अभियान (आरएमएसए), राष्ट्रीय शिक्षा मिशन - सूचना एवं संचार प्रौद्यौगिकीयां (एनएमईआईसीटी), यूजीसी की विजिटिंग समितियों, राष्ट्रीय मूल्यांकन एवं प्रत्यायन परिषद (एनएएसी) दलों, राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा एवं योजना परिषद के साथ-साथ विजिटिंग दलों, डीईसी-यूजीसी-एआईसीटीई की निरीक्षण समितियों आदि के भी सदस्य रहे हैं।

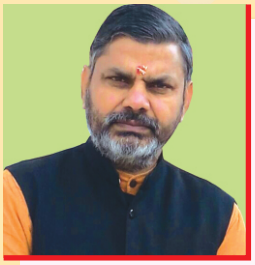

प्रोफेसर पवन कुमार शर्मा, भारतीय राजनीतिशास्त्र के अध्येता के रूप में संपूर्ण देश में प्रवास करते हैं। प्राचीन भारत के राज दर्शन एवं विद्या परंपरा को समकालीन परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने में विशेष रूचि रखते हैं। वे न केवल ऐसा करते हैं बल्कि बहुतायत में प्रमाण भी प्रस्तुत करते हैं। समकालीन समस्याओं के समाधान के रूप में भारतीय विद्या की भूमिका को महत्वपूर्ण मानते हैं। इसी दृष्टिकोण से सैकड़ों व्याख्यान आपके देश के विभिन्न विश्वविद्यालय एवं प्रतिष्ठित संस्थानों में हो चुके हैं। बहुतायत में शोधपत्रों का प्रकाशन। अध्ययन/अध्यापन के परिप्रेक्ष्य में भारतीय पद्धति के प्रचलन के लिए विशेष प्रयासरत्। भारत ने अतीत में विभिन्न प्रकार से विश्व का मार्गदर्शन किया; ऐसा विषय युवकों के मध्य आवे इस दृष्टिकोण से सक्रिय। संप्रति आचार्य तथा अध्यक्ष राजनीतिशास्त्र एवं लोक प्रशासन विभाग तथा अधिष्ठाता समाज विज्ञान संकाय एवं शिक्षा संकाय अटल बिहारी वाजपेयी हिंदी विश्वविद्यालय, भोपाल।